# तद्भव

आधुनिक रचनाशीलता पर केंद्रित विशिष्ट संचयन

वर्ष-11, अंक-1
पूर्णांक-46
जनवरी-2023

संपादक
**अखिलेश**

लेजरटाइप सेटिंग
**मोहिनी शर्मा**
दिल्ली

**मुद्रण**
ग्रैंड प्रिंटिंग प्रेस
गोमती नगर, लखनऊ

**मूल्य**
एक प्रति : एक सौ पचास रुपये
संस्थाओं के लिए : तीन सौ रुपये
वार्षिक सदस्यता : तीन सौ रुपये (डाक खर्च सहित)
संस्थाओं के लिए : पांच सौ रुपये (डाक खर्च सहित)
विदेश के लिए : सत्तर डालर
आजीवन सदस्यता : आठ हजार रुपये

**सम्पर्क**
18/201, इंदिरा नगर,
लखनऊ - 226016
उत्तर प्रदेश
दूरभाष : 0522-2345301
ई-मेल : akhilesh_tadbhav@yahoo.com

**समस्त कानूनी विवादों का न्यायक्षेत्र लखनऊ, उत्तर प्रदेश होगा।**

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक अखिलेश कुमार द्वारा 18/201, इंदिरा नगर, लखनऊ, उ.प्र. से प्रकाशित और ग्रैंड प्रिंटिंग प्रेस, 337 विजयीपुर, विशेष खंड, गोमती नगर, लखनऊ से मुद्रित

# अनुक्रम

**जीवन**
अस निबहुर देसू-II **विश्वनाथ त्रिपाठी** 1

**शताब्दी**
सांस्कृतिक स्मृति से जुड़ी प्रगतिशीलता **हितेंद्र पटेल** 17

**लेख**
हिंदी आलोचना का औपनिवेशिक संदर्भ और हजारीप्रसाद द्विवेदी का लालित्यशास्त्र **राजकुमार** 30
यूटोपिया और आकांक्षा **सव्यसाची मिश्र** 44

**कहानियां**
हुनरबाज **पंकज मित्र** 68
संगीतकार का जन्म **अनुपम ओझा** 76
धीरा **विजयश्री तनवीर** 96

**मुलाकात**
'विकास को आदिवासी की आंख से देखिए' **गणेश नारायण देवी** से **रमाशंकर सिंह** की बातचीत 113

**कविताएं**
कविताएं **अशोक वाजपेयी** 125 / कविताएं आत्मस्वीकार **प्रियदर्शन** 133 / कविताएं **अनिल मिश्र** 136 / कविताएं **मनीष कुमार यादव** 145 / कविताएं **देवेश पथ सारिया** 149 / कविताएं **वियोगिनी ठाकुर** 153 / कविताएं **तापस शुक्ल** 157

**विशेष**
लिखनावली : राज काज समाज **कमलानंद झा** 161 / लिखनावली : पाठ एवं अर्थ 179

**स्मरणालोचन**
हिंदी साहित्य में प्रयागवाद **हरीश त्रिवेदी** 187

**संस्मरण**
बाबा नागार्जुन को याद करते हुए **मैनेजर पांडेय** 207

**समीक्षाएं**
ज्ञान की नक्शानिगारी और राजनीतिक द्वंद्व **कुंवर प्रांजल सिंह** 214 / त्रासद कहानियों में रचा बसा भारत **जवरीमल्ल पारख** 221 / अलगाव, विस्थापन और नफरत ही भरे हैं पल्ली तरफ **नवीन जोशी** 226 / सभ्यता की असभ्यता का आख्यान **उन्मेष कुमार सिन्हा** 232 / अमर देसवा का मरघट **डॉ. राजेश कुमार** 237 / विधाओं की हदें तोड़ती और नया रास्ता बनाती है 'कच्छ कथा'
**सुदीप्ति** 243 / 'रेख्ते के बीज' : कल्पित का बीजक **कमलेश वर्मा** 249

# संपादकीय

***जब*** *किसी देश का सामाजिक समय विभिन्न प्रकार के संकटों से घिर जाता है, एक मुसीबत अभी खत्म हुई नहीं कि चार नई सामने खड़ी हो जाती हैं, जब सत्ता का शिखर निरंकुश और अहंकारी हो जाता है, बड़े जतन और मुश्किलों से सृजित किया गया तथा सहेजकर संरक्षित किए गए तमाम मूल्यवान विनष्ट किये जाने लगते हैं तब देश के नागरिकों का क्या रवैया होता है? वे किस प्रकार प्रतिक्रिया करते हैं? जाहिर है कि यहां 'देश' से हमारा आशय अपने देश भारत से है; 'जब' से आशय वर्तमान समय से है। अब उपरोक्त सवाल अधिक सरल रूप में यूं है कि हमारा समाज मौजूदा विपदाओं को किस ढंग से ग्रहण कर रहा है, साथ ही उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार कर रहा है? इन प्रश्नों को व्यापक समाज, देश के आलोक में समझने और विश्लेषित करने की जरूरत है किंतु फिलहाल स्थानाभाव के चलते यहां उसे साहित्य के परिसर तक ही सीमित रखेंगे।*

*आज हम एक तरफ उन मुश्किलों से जूझ रहे हैं जो विगत कुछ वर्षों से तीव्र होनी शुरू हो गई थीं और एक विस्फोटक मुहाने पर हैं। यानी कि ये कठिनाइयों का एक नैरंतर्य है। उन सभी कठिनाइयों को यदि एक शब्द में व्यक्त करने की अनिवार्यता हो तो शायद वह शब्द होगा— भेद। जो भारत अपनी विविधता के सौंदर्य पर इतराता था उसकी उस विविधता को भेद में बदलकर विकृत कर दिया जा रहा है। भेद का एक रूप हम आर्थिक मोर्चे पर साफ साफ देखते हैं। जिस प्रकार चंद गिनेचुने लोगों ने देश की संपदा का अधिकांश हड़प लिया है उसे एहसास और सांख्यिकी दोनों रूपों में सब जानते ही हैं। हम सबसे अमीर कुबेरों के वैभव को न भी याद करके अपने इर्दगिर्द के जीवन की पड़ताल करें, वहां भी भेद का— अंतर का— विकराल चेहरा प्रकट होता ही रहता है। मालिक और नौकर, अफसर और चपरासी, उद्योगपति और मजदूर, लेखक और प्रकाशक आदि के आय, व्यय और जीवन स्तर के बीच जितना अकल्पनीय फासला आज है, पहले नहीं था। शिक्षा, चिकित्सा, न्याय व्यवस्था, पर्यटन, खानपान, फैशन, निवास आदि के क्षेत्रों में अधिकतम और न्यूनतम का जो भयंकर फासला है वह समाज की समृद्धि की कथा नहीं बल्कि बदहाली का आख्यान है। लेकिन विचित्र यह हुआ कि यह ठीक नाक के नीचे बल्कि आंख के सामने है लेकिन अधिकतर लोग इस अंधकार को देख नहीं रहे हैं या संभवत: देखना नहीं चाहते हैं। जैसे लोगों को किसी जादू से मोहाविष्ट कर दिया गया हो, सब दुखी हैं लेकिन अपने को सुखी*

*और बेहतर समझ रहे हैं। जो गुलाम बना रहा है वही मुक्तिदाता लग रहा है। जख्म जो है मरहम महसूस हो रहा है। भरम जो है वह भेद की भयावहता से वाकिफ नहीं होने दे रहा है। यह समकाल की सबसे भयंकर त्रासदी है।*

*भेद का दूसरा चेहरा अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष, अधिक हिंसक और मनुष्यविरोधी है। अपने पराये का भेद धर्म और संप्रदाय के नाम पर घृणा की सृष्टि कर रहा है। यूं भारतीय संदर्भ में इस प्रकार की घृणा और वैमनस्य का प्रदर्शन देश के विभाजन के बाद अपने वीभत्सतम रूप में प्रकट हुआ था। परंतु उसमें और आज में कुछ ऐसे अंतर हैं जिसके चलते आज की धर्मिक सांप्रदायिक हिंसा ज्यादा शर्मसार करती है। आज अल्पसंख्यक विशेष रूप से मुसलमानों के लिए बहुसंख्यक समुदाय के अंदर जिस प्रकार भेद, घृणा और हिंसा के भाव को विभिन्न सत्ताकेंद्रों द्वारा महिमामंडित किया जा रहा है, सांस्थानिक तरीके से सबल और आर्थिक रूप से संपन्न बनाया जा रहा है, मीडिया तथा प्रचार के अन्य माध्यमों के जरिये जिस तरह से उक्त विष को प्रसारित किया जा रहा है और जिस ढंग से कुत्सा, बर्बरता को महिमामंडित करते हुए उसके पक्ष में सैद्धांतिकी पेश करने के लिए इतिहास की भ्रष्ट व्याख्याएं हो रहीं है वह सब अभूतपूर्व है। तमाम सारे हैं जो अन्य समुदाय अथवा धार्मिक पहिचान के व्यक्तियों से नफरत पर शर्म करने के बजाय गर्व करने का संदेश दे रहे हैं। यहां यह भी कहना है कि विभाजन के समय की हिंसा और घृणा एक जलजले की तरह थी जिसके थम जाने के बाद लोगों में दु:ख और ग्लानि के भाव पैदा हुए। यही वजह थी कि जल्द ही हमारे समाज में मिलीजुली संस्कृति पुन: अपनी सुंदरताओं के साथ दृश्य में आ गयी; सभी मिलजुल कर रहने लगे। लेकिन इस बार के भौगोलिक तो नहीं, आभ्यांतरिक बटवारे ने जो खाईं निर्मित की वह लगातार चौड़ी होती जा रही है।*

*भेद का एक अन्य अर्थ होता है—रहस्य। हर इंसान की जिंदगी में उसके कुछ भेद होते हैं। लेकिन आज सोशल मीडिया के प्रसार के दौर में अधिकतर की कोई निजता नहीं बची है। नतीजतन उस तरफ बाजार आपकी निजी जानकारियों का डेटा उपलब्ध करके आपको कंट्रोल कर रहा है तो इस तरफ सत्ता संरचना उस डेटा की सहायता से आपको अपने अनुकूल ढालती है; आपकी जासूसी करती है। मौजूदा हुकूमत तो चार कदम आगे बढ़कर अपने राजनीतिक, वैचारिक विरोधी का कई बार कोई खास भेद न रहने पर वह उसके भेदों की सृष्टि कर लेती है, फिर उसे अपने प्रचारतंत्र के जरिये वास्तविकता की तरह स्थापित करके अपना दमनचक्र चलाती है। इसके पीछे दो प्रकार के उद्देश्य होते हैं। एक यह कि विरोधी के हौसले तोड़ दो, दूसरे इस प्रकार की करतूतों से अन्य के अंदर भी इतना खौफ जन्म ले कि कोई विरोध का साहस न करे।*

*लेकिन क्या सचमुच आज लोग विरोध करने का साहस तज दे रहे हैं? या प्रतिरोध में अधिक हिम्मत के साथ मुठभेड़ पर आमादा हैं? या कहीं यह भाव तो नहीं उभर रहा है कि प्रतिरोध की क्या जरूरत जब सब सुखद और अमृतमय है। तो क्या प्रतिरोध एक मरीचिका या बैठेठाले का शगल है या कोई आदत भर है? वस्तुत: स्थिति है क्या? जैसा हमने आरंभ*

*में कहा था कि हम इन चीजों को अपने साहित्य के संदर्भों से देखने परखने का प्रयास करेंगे। आखिरकार साहित्य को समाज का दर्पण कहा ही जाता है। यह भी कि साहित्यकार भी किसी अन्य साधारण नागरिक की तरह समाज के सुख दुख का भोक्ता होता है। उस पर भी चीजें अन्य की तरह आघात करती हैं और कला या भाषिक निपुणता को छोड़ दें तो प्रतिक्रिया स्वरूप उसके व्यवहार के मूल स्वर आम आदमी जैसे रहते हैं।*

*जब सत्ता दमनकारी हो और उसके अभी आगे मजबूत बने रहने की गुंजाइश दिख रही हो तब उससे असहमत लोगों पर तीन तरह से असर होता है। एक तबका अराजनीतिक हो जाता है। हिंदी साहित्य के परिदृश्य पर नजर डालने पर साफ दिखाई देता है कि इधर कुछ वर्षों से हमारे लेखकों में भौतिक दुनिया, सामान्य जन की पीड़ा के बरक्स पारलौकिक और निजी अनुभूति के प्रति रुझान बढ़ा है। अचानक प्रेम की पीड़ा का प्रकोप आ गया है। श्रृंगार और विप्रलंभ जो आधुनिक कविता में जरा पिछड़ गए थे, पुनः लोकप्रिय हो गए हैं। सत्ता की मजबूती ने जनमानस के मध्यवर्ग के व्यापक हिस्से में यह मनोविज्ञान निर्मित किया कि बदलाव नहीं मुमकिन है तो जिंदगी का लुत्फ क्यों न लिया जाये। कहना न चाहिए लेकिन आजकल हमारे लेखक कुछ अधिक लुत्फ उठाने के चक्कर में आ गए हैं। 'जहां हो मस्ती वहां बनानी बस्ती' की भावना घर करती जा रही है उनमें। पुरस्कार, सितारा आयोजन, प्रबंधित प्रशंसाएं दूसरों की सच्ची झूठी तारीफें, ये सब लुत्फ का जुगाड़ करने के माध्यम हैं; अतः इनका प्रचलन विस्तृत हो गया है। सोशल मीडिया पर सराहना का परस्पर आयोजन इसका सबसे सस्ता, सुगम और टिकाऊ उपक्रम है। यदि रोज रात को नींद में जाने के पहले लेखक यह गिने कि आज फेसबुक पर उसने कितनी बार झूठ लिखा और लाइक किया तो निश्चय ही अधिकतर की आत्मा ग्लानि से रो पड़ेगी। पूछेगी कि आखिर यह सब क्या हासिल करने के लिए?*

*सत्ता की निरंकुशता खौफ पैदा करती है। खौफ दो तरह की स्थितियों को जन्म देता है। एक यह कि लोग चुप्पी इख्तियार कर लें। इस मसले पर हिंदी साहित्य की दुनिया में बेहतर हालात हैं। यहां खामोशी नहीं है बल्कि कहा जा सकता है, राजनीतिक सत्ता की कारगुजारियों ने अनेक लोगों को अधिक राजनितिक बना दिया है। वे मुखर होकर विरोध कर रहे हैं। उसी सोशल मीडिया पर निर्भय होकर सत्य कहा जा रहा है। इस हौसले के पीछे यह वजह भी हो सकती है कि हमारे यहां लेखकों पर उनके लेखन की वजह से सत्ता द्वारा प्रताणित किये जाने के उदाहरण नहीं हैं क्योंकि अधिकतर लोग साहित्य पढ़ते ही नहीं हैं, उसके बारे में जानते नहीं हैं। लेकिन यदि किसी रोज ऐसी दुर्घनाएं होने लगेंगी तब देखना होगा कि क्या विरोध का उत्साह इसी प्रकार बना रहता है? इस प्रसंग में यह भी कहना है कि इस प्रकार के विरोध में शोर ज्यादा होता है प्रभाव कम। यूं जब सत्ता मदांध और बधिर हो तो ऐसे शोर का भी अपना महत्व है किंतु साहित्य का काम काफी गहरे उतरकर सामाजिक यथार्थ को भरपूर कलात्मकता के साथ अभिव्यक्ति देना होता है। इसीलिए उसमें शोर हो सकता है लेकिन वह चुप्पियों को भी पकड़ता है। वह साफ साफ दिख रहे के संग*